পৃথিবী

H
811.6
P 886 P

H
811.6
P886P

প্রসাদ

परिचय

जन्म—माघ शुक्ल दशमी सं० १९४६

मृत्यु—कार्तिक शुक्ल एकादशी सं० १९९४

'सुँघनीसाहु' के नाम से प्रसिद्ध, काशी के एक प्रतिष्ठित, धनी और उदार घराने में श्री जयशंकर प्रसाद जी का जन्म हुआ था।

प्रसाद जी ने अंग्रेजी की शिक्षा ८वें दर्जे तक स्कूल में पायी थी। परन्तु घर पर उन्हें अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू और संस्कृत की अच्छी शिक्षा मिली। उस समय के काशी के अच्छे कवियों के सत्संग से बाल्यकाल से ही उनकी कविता के प्रति रुचि जागृत हो गयी थी।

पन्द्रह वर्ष की उम्र से वे लिखने लगे थे। संवत् १९६३ में 'भारतेन्दु' में प्रथम बार उनकी कविता प्रकाशित हुई। इसके बाद उन्हीं की प्रेरणा से निकले 'इन्दु' मासिक में नियमित रूप से उनकी कविता, कहानी, नाटक और निबन्ध प्रकाशित होने लगे।

प्रसाद जी ने नवीन युग का द्वार हिन्दी में खोला था। वे कविता की नवीन धारा के प्रवर्तक और उसके सर्वमान्य श्रेष्ठ कवि थे। हिन्दी के नाटक-साहित्य में उनकी देन सब से अधिक है और वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार के रूप में भी विख्यात हैं। कथा-साहित्य भी उनसे कीर्तिमान बना है। १९११ ई० से, जब हिन्दी के अपने मौलिक कहानी-लेखक नहीं थे, तब से उसके भण्डार को उन्होंने भरा है।

कथा-साहित्य में प्रसाद-स्कूल, अपनी विशिष्ट शैली के कारण, अपना एक अलग ऊँचा स्थान रखता है। साहित्य के इन विविध अंगों की पूर्ति के साथ-साथ उन्होंने साहित्य तथा खोज सम्बन्धी निबन्ध भी लिखे हैं, जिनका स्थान हिन्दी-साहित्य में महत्त्वपूर्ण है।

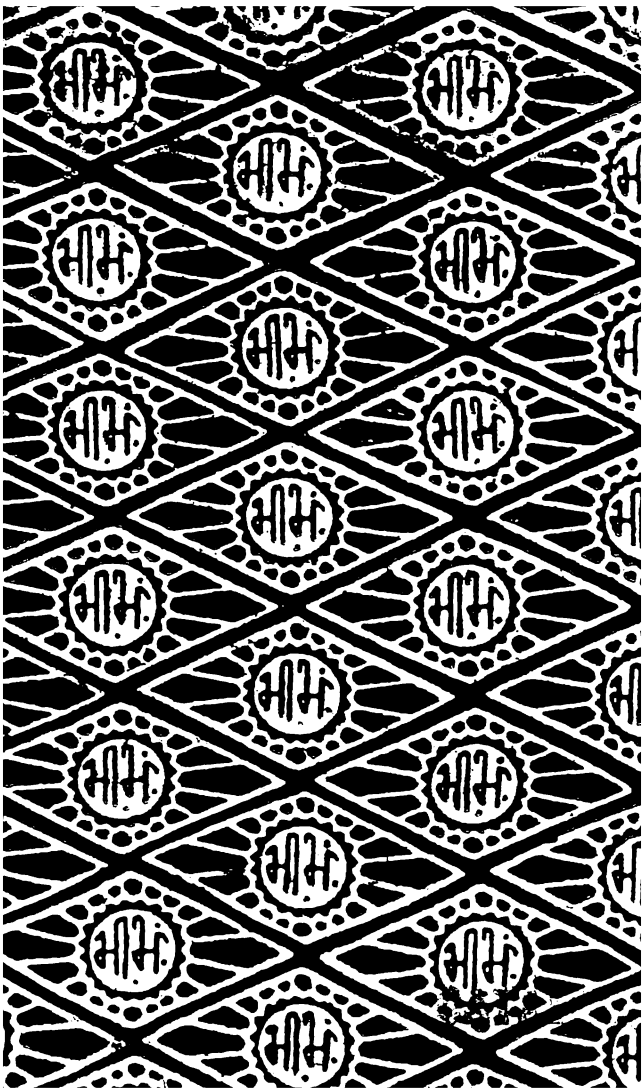
भीमं

प्रेम-पथिक

जगन्नाथप्रसाद

Library IIAS, Shimla
H 811.6 P 886 P
00046421

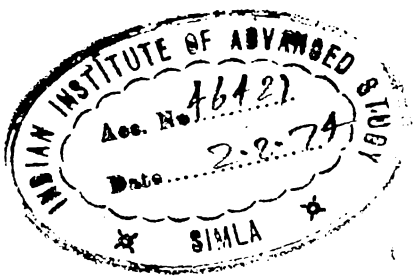

H
811.6
P886P

ग्रंथ-संख्या	६४
छठा संस्करण	सन् १९७२
मूल्य	एक रुपया
प्रकाशक तथा विक्रेता	भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद
मुद्रक	बलवन्तराम मेहता लीडर प्रेस, इलाहाबाद

स्वर्गीय अग्रज

बाबू शम्भूरतन जी

की

पवित्र स्मृति में

अंकित

●

निवेदन

इस छोटी-सी पुस्तक के लिए किसी बड़ी भूमिका की आवश्यकता नहीं। केवल इतना कह देना अधिक न होगा कि यह काव्य व्रज-भाषा में आठ वर्ष पहले मैंने लिखा था। जिसका कुछ अंश 'इंदु' के प्रथम भाग में प्रकाशित भी हुआ था। यह उसी का परिवर्तित, परिवर्द्धित तुकान्तविहीन हिन्दी-रूप है।

काशी,
माघ शुक्ल ५, १९७० वि०
प्रथम संस्करण

विनीत
—जयशंकर 'प्रसाद'

प्रेम-पथिक

•

सन्ध्या की, हेमाभ तपन की, किरणें जिसको छूती हैं
रञ्जित करती हैं देखो जिस नई चमेली को मृद से
कौन जानता है कि उसे तम में जाकर छिपना होगा ?
या फिर कोमल मधुकर उसको मीठी नींद सुला देगा ?
विमल मधुर मलयानिल के मिलने से खिल जाती है,
हरी डाल के सुखद हिंडोले में परिवर्द्धित होकर जो
अकपट विकसित भाव दिखाती है कैसी आनन्दमयी,

सरल विलोकन में जिसके आन्तरिक प्रेम है खिला हुआ
निर्निमेष हो हंसती जैसे तन-मन की सुधि भूली-सी
उस नैसर्गिक सुरभिपूर्ण, उस रूपवती का क्या कहना,
जिसे कि प्रकृति मालिनी बनकर अपने हाथ सजाती है।
अहा चमेली वही, बताओ कैसे सुख को पावेगी
तोड़ी जाकर निज डालों से, चिरसंगिनी कली-कुल से—
बिछुड़ाई जाकर, क्या फूल चंगेर सजावेगी ? किसका ?
जिसे न कुछ परवाह कली की; उसे तोड़कर रखता है
सेज समीप, रात को खिल-खिलकर सुख देती जो उसको
जिसका शयनागार सजा है, पुष्पपात्र है बहुत धरे
किसी एक में यही चमेली पड़ी म्लान हो जावेगी।
जी भर-भर कर सौरभ देकर आकर्षित न किया मन को
बिना स्पर्श के ही कुम्हिलाकर अपना समय बितावेगी।
अथवा कौन बतावे कैसा होगा इसका फल इसको,
किसी स्वार्थी माली से तोड़ी जाकर, गूंथी जाकर—
अन्य कुसुम-कलियों के साथ बनावेगी सुंदर माला
टके-मोल बिक जावेगी। जब सुंदर सौरभ ले लेगा,
दूर करेगा उसको, अपने गले कभी न लगावेगा
कौन जानता है या, यों ही पड़ी रहेगी डाली में

तारा-सा टक लगा रखेगी फूलेगी मन-ही-मन में
शून्य मार्ग में विचरणकारी पवन कभी हां छू लेगा
अभिलाषा-मकरन्द सूख जावेगा, मुरझा जावेगी।
जिस धरणी से उठी हुई थी उस पर ही गिर जावेगी

लीलामय की अद्भुत लीला किससे जानी जाती है
कौन उठा सकता है धुंधला-पट भविष्य का जीवन से
जिस मंदिर में देख रहे हो जलता रहता है कर्पूर
कौन बता सकता है उसमें तेल न जलने पावेगा
यह भी नहीं जानता कोई वही महल, आशामय के
विशद कल्पना-मंदिर-सा कब, चूर-चूर हो जावेगा,
कुटिल काल के किस प्रभाव से फिर क्या-क्या बन जावेगा,
भला जानते हो क्या कानन-कोने में जो बना हुआ
द्रुमदल आच्छादित कुटीर है, जिस पर लतिका चढ़ी हुई
ईश दया-सी छाई है उसमें सामग्री एक नहीं
सब अभाव के रहते भी क्यों कोई वस्तु नहीं घटती।
हां, अभाव का अभाव होकर आवश्यकता पूरी है।

सुन्दर कुटिया वह कैसी है रम्यतटी में सरिता के
शांत तपस्वी-सी वल्लरियों के झुरमुट से घिरी हुई।
फैल रहे थे कोमल वीरुध हरे-हरे तृण चारों ओर

जैसे किसी दुर्ग की खाई में श्यामल जल भरा हुआ स्वच्छ मार्ग था रुका जहां था हरी मालती का तोरण घिरी वहां थी नई चमेली की टट्टी प्राकार बनी कानन के पत्तों, कोमल तिनकों की उस पर छाया थी मृगछाला, काँशेय, कमण्डल, वल्कल से ही सजी रही शांत निवास बनी थी कुटिया और रहा जिसके आगे नवल मालती-कुंज बना दालान, अनोखे सज-धज का।

ढलते हुए तृतीय पहर के तपन मधुर हो जाते हैं उसी तरह इस मानव की अब शांत अवस्था कैसी है? 'पच्चीसी' के प्रबल भाव अब नहीं, न वृत्ति अदम्य रही स्निग्ध भाव मुखमंडल पर क्या स्वच्छ सुधा बरसाता है! है बैठा मालती-कुंज में, और बड़ा आश्चर्य अहो एक तापसी भी है बैठी दुख पददलिता छाया-सी। कंपते हुए, रुके गदगद स्वर से बोली तापसी—"सुनो, भद्र पथिक! अब रात हो गई, पथ चलने का समय नहीं पर्ण कुटीर पवित्र तुम्हारा ही है, कुछ विश्राम करो फल, जल, आसन सभी मिलेगा जो प्रस्तुत है मेरे पास और तुम्हारी शांति न कोई भंग करेगा तृण भर भी आत्मकथा हो मुझे सुनाने योग्य तो न वञ्चित करना

सौम्य अतिथि को पाकर फिर यह निशा सहज में बीतेगी हां प्रभात होते ही अपने पथ पर तुम लग जाओगे और दुःखिनी यहीं अकेली ज्यों-की-त्यों रह जावेगी।" कहा पथिक ने—"धन्यवाद है, ठीक कहा, अब समय नहीं और लालसा लगी हृदय में गाथा सुनूं, सुनाऊं मैं इससे अच्छा यही कि रजनी आज बिताऊं कहीं यहीं।"

★ ★ ★

प्रायः लोग कहा करते हैं—'रात भयानक होती है—घोर कर्म्म भीमा रजनी के आश्रय में सब होते हैं।' किन्तु नहीं; दुर्जन का मन उससे भी तममय होता है जहां सरल के लिये अनेक अनिष्ट विचारे जाते हैं। जिसकी संकीर्णता निरख, अन्धकार भी घबराता हो उस खल-हृदय से कहीं अच्छी होती है श्यामा रजनी जहां दुखी प्रेमी, निराश, सब मीठी निद्रा में सोते आशा-स्वप्न कभी भी तो तारा-सा झिलमिल करता है चिर विछोहियों को क्रीड़ा-वश होकर निद्रा-बीच कभी कुहक-कामिनी मिला दिया करती है। इतना क्या कम है? अस्ताचल जाते ही दिनकर, के, सब प्रकट हुए, कैसे अन्तरिक्ष में गुप्त रहस्य समान अहा धीरे-धीरे

स्पष्ट, चण्ड-शासन में जैसे असल अवस्था खुले नहीं। प्रियदर्शन होकर जब मंत्री यथाविहित सब सुनता है हृदय खोलकर दिखलाने को कौन प्रजा प्रस्तुत न हुई ? जैसे-जैसे तारागण ये गगन-बीच प्रकटित होते वैसे नई चमेली भी अपनी डाली में खिलती थी। परिमलवाही शांत समीरण विमल मधुर मकरन्द लिये चला आ रहा नये पथिक की तरह कुटी की ओर अहो होकर अब निश्चिन्त पथिक तो बैठ गया समतल थल पर किन्तु पवन वह लगा उलझने, बार-बार बल खाता था जहां-जहां कलियों को पाता उन्हें हिलाता जाता था।

ताराओं की माला कबरी में लटकाये, चन्द्रमुखी, रजनी अपने शांति-राज्य-आसन पर आकर बैठ गई। तेजमयी तापसी कुटी से निकल, कुञ्ज में आ बैठी, चन्द्रशालिनी रजनी थी चुपचाप देखती दोनों को। कहा तापसी ने—"कहिये अब भद्र पथिक, अपनी गाथा— क्यों यह वेश, छोड़कर घर को क्यों वन-वन में फिरते हो ?"

"शुभे ! अतीत कथाएं यद्यपि कष्ट हृदय को देती हैं तो भी वज्र-हृदय कर अपना, उसको तुम्हें सुनाता हूं। किन्तु समझना इसे कहानी इस पर कुछ न ध्यान देना

कष्ट न देना अपने मन को''—कहा पथिक ने गदगद हो—
''क्योंकि हृदय कोमल होता है वनिताओं का, बातों में ;
करुणा-प्लावित होकर दृग झरने को भरने लगता है ।

ऊषा की पहली किरणों के साथ स्मरण करता हूं मैं
उस छोटे-से स्वच्छ नगर को जहां जन्म-भू थी मेरी,
जिसकी उस पर नवल प्रभा पड़ती प्रभात में अति अभिराम
जिससे लगे सुमन-कानन में कोमल किसलय प्रस्तुत थे
उन पथिकों को पंखा झलते—थके हुए जो आते थे ।
सच्चरित्र, संतुष्ट गृहस्थों की थी जन्मभूमि नगरी
दया-स्रोत-सी जिसे घेरकर बहती थी छोटी सरिता ।
गोचरभूमि रही विस्तृत नगरोपकण्ठ में हरी-भरी
दुग्धशालिनी गायों का जब झुण्ड दिखाई पड़ता था
तब निरोगिता को प्रत्यक्ष विचरते लोग निरखते थे ।
कृषक समूह जहां संध्या को ग्राम्य गीत सुख से गाते
वे सीमा के खेत शस्य से श्यामल हो लहराते थे ।

नगर-बीच में पण्यवीथिका भरी दिखाई देती थी
क्रय-विक्रय की धूमधाम से जनरव से उद्घोषित थी
जन-स्रोत-सा राजमार्ग चलता ही रहता था दिन-रात
सब प्रफुल्ल थे, अपने-अपने कार्य परिश्रम से करते,

हां मित्रों के मिल जाने पर हंसकर मन से मिलते भी खेल, तमाशे, पर्व और त्योहार सभी थे होते थे और कहां तक कहूं, सदा आनन्द-स्रोत उमड़ा रहता इसीलिये—'आनन्दनगर' था **नाम पड़ा उस नगरी का।**

"तटिनी के तट पर सुन्दर था एक मनोहर घर अपना स्वर्ग-धरा का, सुन्दर; जिसमें साथ पिता के रहता मैं। पास उसी के और एक थे गृहस्थ रहते, सज्जन थे प्रेम पुत्तली कन्या से खेला करते बूढ़े होकर। मेरे पिता रहे उनके परिचित मित्रों में कौन कहें? रहा बड़ा सद्भाव सदा दोनों में अच्छी बनती थी। हम दोनों भी नित्य परस्पर मिलकर खेला करते थे नदी-कूल में, कुसुम-कुंज में, उषा और सन्ध्या में भी खिली चांदनी में खिलते थे एक डाल में युगल कुसुम। चकई-चकवे-से हम दोनों, रात व्यतीत अलग करते क्रीड़ा कर जब थक जाते तब अपने घर ले जाते थे—दोनों ही के जनक। सदा यों ही निज मन बहलाते थे।"
कुछ अज्ञात कारणों से तब पुलकित हो तापसी उठी, कहा—"पथिक क्या नाम तुम्हारा, यह न कहा तुमने अब तक।"
कहा पथिक ने—"शुभे! कथा सुन लो फिर नाम बताऊंगा।

हां, फिर हम दोनों ऐसे ही बहुत दिनों तक मिलते थे
जब कि पिता की जरा अवस्था रोग साथ में ले आई
और हुए वे बहुत दुखी तब सहचर को बुलवा भेजा
पुतली के तब पिता देखकर उन्हें, बहुत ही दुखी हुए।
कहा—'मित्रवर, कहो तुम्हारी क्या आज्ञा है उसे करूं।'
कहा पिता ने—'मित्र, देखकर समझ रहे हो सब बातें
तुम्हें सौंपता हूं अब इसको, इसे पुत्र अपना **जानो**।'
यों कह मेरा कर उनके हाथों देकर सांस लिया
कहा उन्होंने—'यह तो यों ही है मेरा, हां और कहीं
यदि कोई हो कार्य और भी उसे करूंगा सच जानो।'
'और नहीं कुछ, शांत चित्त से स्मरण करूंगा अब प्रभु का'—
कहा पिता ने प्रमुदित होकर। मित्र पधारें निज गृह को।"

* * *

कहां **मित्रता** कैसी बातें? अरे कल्पना है सब ये
सच्चा मित्र कहां मिलता है?—दुखी हृदय की छाया-सी!
जिसे मित्रता समझ रहे हो, क्या वह शिष्टाचार नहीं?
मुंह देखे की मीठी बातें, चिकनी चुपड़ी ही सुन लो।
जिसे समझते हो तुम अपना मित्र भूलकर वही अभी
जब तुम हट जाते हो, तुमको पूरा मूर्ख बनाता है।

हां मित्रों के मिल जाने पर हंसकर मन से मिलते भी खेल, तमाशे, पर्व और त्योंहार सभी ये होते थे और कहां तक कहूं, सदा आनन्द-स्रोत उमड़ा रहता इसीलिये—'आनन्दनगर' था **नाम पड़ा उस नगरी का।**

"तटिनी के तट पर सुन्दर था एक मनोहर घर अपना स्वर्ग-धरा का, सुन्दर; जिसमें साथ पिता के रहता मैं। पास उसी के और एक थे गृहस्थ रहते, सज्जन थे प्रेम पुत्तली कन्या से खेला करते बूढ़े होकर। मेरे पिता रहे उनके परिचित मित्रों में कौन कहें? रहा बड़ा सद्भाव सदा दोनों में अच्छी बनती थी। हम दोनों भी नित्य परस्पर मिलकर खेला करते थे नदी-कूल में, कुसुम-कुंज में, उषा और सन्ध्या में भी खिली चांदनी में खिलते थे एक डाल में युगल कुसुम। चकई-चकवे-से हम दोनों, रात व्यतीत अलग करते क्रीड़ा कर जब थक जाते तब अपने घर ले जाते थे—दोनों ही के जनक। सदा यों ही निज मन बहलाते थे।" कुछ अज्ञात कारणों से तब पुलकित हो तापसी उठी, कहा—"पथिक क्या नाम तुम्हारा, यह न कहा तुमने अब तक।" कहा पथिक ने—"शुभे! कथा सुन लो फिर नाम बताऊंगा।

हां, फिर हम दोनों ऐसे ही बहुत दिनों तक मिलते थे
जब कि पिता की जरा अवस्था रोग साथ में ले आई
और हुए वे बहुत दुखी तब सहचर को बुलवा भेजा
पुतली के तब पिता देखकर उन्हें, बहुत ही दुखी हुए।
कहा—'मित्रवर, कहो तुम्हारी क्या आज्ञा है उसे करूं।'
कहा पिता ने—'मित्र, देखकर समझ रहे हो सब बातें
तुम्हें सौंपता हूं अब इसको, इसे पुत्र अपना **जानो**।'
यों कह मेरा कर उनके हाथों देकर सांस लिया
कहा उन्होंने—'यह तो यों ही है मेरा, हां और कहो
यदि कोई हो कार्य और भी उसे करूंगा सच जानो।'
'और नहीं कुछ, शांत चित्त से स्मरण करूंगा अब प्रभु का'—
कहा पिता ने प्रमुदित होकर। मित्र पधारे निज गृह को।"

* * *

कहां **मित्रता** कैसी बातें? अरे कल्पना है सब ये
सच्चा मित्र कहां मिलता है?—दुखी हृदय की छाया-सी!
जिसे मित्रता समझ रहे हो, क्या वह शिष्टाचार नहीं?
मुंह देखे की मीठी बातें, चिकनी चुपड़ी ही सुन लो।
जिसे समझते हो तुम अपना मित्र भूलकर **वही अभी**
जब तुम हट जाते हो, तुमको पूरा मूर्ख बनाता है।

क्षण भर में ही बने मित्रवर अन्तरंग या सखा समान
'प्रिय' हो, प्रियवर हो सब तुम हो काम पड़े पर 'परिचित' हो
कहीं तुम्हारा 'स्वार्थ' लगा है, कहीं 'लोभ' है मित्र बना
कहीं 'प्रतिष्ठा' कहीं 'रूप' है—मित्र रूप में रंगा हुआ।
हृदय खोलकर मिलनेवाले बड़े भाग्य से मिलते हैं
मिल जाता है जिस प्राणी को सत्य प्रेममय मित्र कहीं
निराधार भवसिन्धु बीच वह कर्णधार को पाता है
प्रेम नाव खेकर जो उसको सचमुच पार लगाता है।

★ ★ ★

"प्रणयांकुर की तरह बालिका, बालक दोनों बढ़ते थे
क्योंकि पिता के मरने पर हम पिता-मित्र के घर रहते
अभिभावक अब वही हमारे रखते स्नेह-सहित मुझको।
नित्य नई क्रीड़ा होती थी। सुख से था संसार बना।
खेल-खेल कर खुली हृदय की कली मधुर मकरन्द हुआ
खिलता था नव प्रणयानिल से नन्दन कानन का अरविन्द
विमल हृदय से छाया पथ में अरुण विभा थी फैली
घेर रही थी नवजीवन को बसंत की सुखमय सन्ध्या
खेल रही थी सुख-सरवर में तरी पवन अनुकूल लिये
सम्मोहन वंशी बजती थी नव तमाल के कुंजों में

हम दोनों थे भिन्न देह से तो भी मिल कर बजते थे—
ज्यों उंगली के छू जाने से सस्वर तार विपञ्ची के।
छोटे-छोटे कुञ्ज तलहटी गिरि-कानन की शस्यभरी,
भर देती थी हरियाली ही हम दोनों के हृदयों में
कलनादिनी नवीना तटिनी पूर्ण प्रवाह बहाती थी
प्रेमचन्द्र-प्रतिबिम्ब हृदय में लेकर वह खेला करती।
श्याम अष्टमी का जो तारा मैं रहता था मरा हुआ,
उसके तारे भी चुक जाते जब गिनते थे हम दोनों—
सब प्रभात नवजीवन लेकर देते थे हमको उपहार;
मणिशलाक-सम प्रथम किरण का गहरी राग रंगी थी जा।

शीतल पवन लिये अङ्गों को कंपा दिया करती थी जो—
वे जाड़े की लम्बी रातें बातों में कट जाती थीं।
नया-नया उल्लास कुसुम-अवचय का मन में उठता था
संध्या और सवेरा दोनों ही प्रकाशमय होता था।
चिढ़ जाता वसंत का कोकिल भी सुन कर वह बोली,
सिहर उठा करता था मलयज इन श्वासों के सौरभ से,
भद्रे! वे सब बीती बातें कैसे कहूं गिनाऊं मैं?

★ ★ ★

एक दिवस जब हम दोनों ले आये फल अच्छे-अच्छे

अपनी ही फुलवारी से, था एक पहर दिन चढ़ा हुआ,
देखा जो आंगन में था सामान थाल में चांदी के
और लोग भी एकत्रित थे, कैसी बातें होती थीं।
मैं भी पुलकित होकर दौड़ा जा पहुंचा चाचा के पास,
पूछा उनसे—'यह सब क्या है, क्या कुछ मुझे बताओगे?'
उनका मुख गम्भीर हुआ, पर एक लगा हंस कर कहने—
"बच्चा! यह फलदान जा रहा है चाचा की पुतली का"
'हूं'—कह कर मैं चला गया, फिर पुतली को जाकर घेरा—
'जाता है फलदान तुम्हारा, हम दोनों भी फल खायें।'

★ ★ ★

क्या था? कैसी वह रजनी थी? पूर्ण चन्द्र था सिर पर भी
हम दोनों थे छत पर बैठे, देख रहे थे प्रकृति-कला,
सचमुच निर्मल नील गगन था, छिटक रहे थे नव तारे;
मेघखण्ड उस स्वच्छ सुधामय विधु को एक लगा ढंकने,
किसने कहा? कौन बोला था सचमुच हमको है अज्ञात
'पुतली! क्या तुम ब्याह करोगी? ब्याह करोगी क्या मुझसे?
हम दोनों फिर जीवन-भर हों एक साथ सुख से काटें!'
पुतली थी विधु ओर देखती, बोल उठी, हां चौंक उठी—
'देखो चन्द्र छिप गया पूरा एक मेघ के अन्तर में!'

'था दूसरा वसन्त मनोहर आया अपने उपवन में
नये फूल उपहार बहुत-सा हम लोगों को लाया था
कमल सरों में खिलते थे, अलिवृन्द किया करते गुञ्जार
संध्या में शोभन होते थे विस्तृत सरिता, कूल, कछार—
कोलाहल था, बहुत बड़ा उत्सव था मानों घर भर में
तोरण बन्दनवार सजाये जाते थे, प्रति द्वारों में।
किन्तु हमारा हृदय स्तब्ध था—क्या यह होनेवाला था!
'पुतली ब्याही जावेगी, जिससे वह परिचित कभी नहीं—'
यही ध्यान उठता था मन में—'हाय प्राणप्रिय! क्या होगा?'
किन्तु कौन सुनता उस शहनाई में हत्तंत्री-झनकार
जो नौबतखाने में बजती थी अपनी गहरी धुन में—
रूखा शीशा जो टूटे तो सब कोई सुन पाता है
कुचला जाना हृदय-कुसुम का किसे सुनाई पड़ता है!
शहनाई बजती थी, मंगल-पाठ हो रहा था घर में,
भरे हुए थे नर-नारी उस सज्जित सुन्दर आंगन में
खड़ा देखता था मैं भी घर के कोने से अभिनय को
जीवन की सर्वस्व, प्रेम की पुतली, किसको अर्पित है?
अहा चमेली से क्यों ऐसे अलग किया जाता हूं? मैं—
मग्न-हृदय उस गृह से बिछुड़ा, जैसे टूटा फल तरु से!

★ ★ ★

अपनी ही फुलवारी से, था एक पहर दिन चढ़ा हुआ,
देखा जो आंगन में था सामान थाल में चांदी के
और लोग भी एकत्रित थे, कैसी बातें होती थीं।
मैं भी पुलकित होकर दौड़ा जा पहुंचा चाचा के पास,
पूछा उनसे—'यह सब क्या है, क्या कुछ मुझे बताओगे?'
उनका मुख गम्भीर हुआ, पर एक लगा हंस कर कहने—
"बच्चा! यह फलदान जा रहा है चाचा की पुतली का"
'हूं'—कह कर मैं चला गया, फिर पुतली को जाकर घेरा—
'जाता हूं फलदान तुम्हारा, हम दोनों भी फल खायें।'

★ ★ ★

क्या था? कैसी वह रजनी थी? पूर्ण चन्द्र था सिर पर भी
हम दोनों थे छत पर बैठे, देख रहे थे प्रकृति-कला,
सचमुच निर्मल नील गगन था, छिटक रहे थे नव तारे;
मेघखण्ड उस स्वच्छ सुधामय विधु को एक लगा ढंकने,
किसने कहा? कौन बोला था सचमुच हमको हैं अज्ञात
'पुतली! क्या तुम ब्याह करोगी? ब्याह करोगी क्या मुझसे?
हम दोनों फिर जीवन-भर हों एक साथ सुख से काटें!'
पुतली थी विधु ओर देखती, बोल उठी, हां चौंक उठी—
'देखो चन्द्र छिप गया पूरा एक मेघ के अन्तर में!'

'था दूसरा वसन्त मनोहर आया अपने उपवन में
नये फूल उपहार बहुत-सा हम लोगों को लाया था
कमल सरों में खिलते थे, अलिवृन्द किया करते गुञ्जार
संध्या में शोभन होते थे विस्तृत सरिता, कूल, कछार—
कोलाहल था, बहुत बड़ा उत्सव था मानो घर भर में
तोरण बन्दनवार सजाये जाते थे, प्रति द्वारों में।
किन्तु हमारा हृदय स्तब्ध था—क्या यह होनेवाला था!
'पुतली ब्याही जावेगी, जिससे वह परिचित कभी नहीं—'
यही ध्यान उठता था मन में—'हाय प्राणप्रिय! क्या होगा?'
किन्तु कौन सुनता उस शहनाई में हृत्तंत्री-झनकार
जो नौबतखाने में बजती थी अपनी गहरी धुन में—
रूखा शीशा जो टूटे तो सब कोई सुन पाता है
कुचला जाना हृदय-कुसुम का किसे सुनाई पड़ता है!
शहनाई बजती थी, मंगल-पाठ हो रहा था घर में,
भरे हुए थे नर-नारी उस सज्जित सुन्दर आंगन में
खड़ा देखता था मैं भी घर के कोने से अभिनय को
जीवन की सर्वस्व, प्रेम की पुतली, किसको अर्पित है?
अहा चमेली से क्यों ऐसे अलग किया जाता हूं? मैं—
मग्न-हृदय उस गृह से बिछुड़ा, जैसे टूटा फल तरु से!

★ ★ ★

बिदा हुआ आनन्द-नगर से, जन्मभूमि से, जननी से,
ऊंचे महलों से, सरिता के कूलों से, बनबागों से,
चारणभूमि, रसाल-कुंज से—जो शैशव के परिचित थे
हृदय हुआ था विकसित जिन वृक्षों को कुसुमित देख नितांत
उनसे भी आलिंगन करके किया प्रणाम विदाई का।
छोड़ दिया सुखधाम सकल आराम, प्रेम-पथ-पथिक हुआ
जगत प्रवास बना था मेरा, सभी नगर ही थे परदेश।

गिरि, कानन, जनपद, सरितायें, कितनी पड़ीं मार्ग के बीच
हृदयोपम सूना आकाश दिखाई पड़ता था सर्वत्र।
सूर्य सवेरे ही उगते थे, सबको नित्य उठाते थे
सब अपने कामों में लगते, मैं अपने पथ पर चलता।
बह जाता था उषा-काल में दक्षिण मलयज सुखकारी
किसी वृक्ष के नीचे रहता प्रेम-पथिक थक कर सोया।
वसन्त का भी पवन दोपहर में ज्वाला बरसाता था
छाया खोज कहीं जो बैठा, श्रम जिससे मिट जाय वहीं
तो चातक आकर पुकारता अहो—'पी कहां ?'—निज सुख में
व्यथित हृदय हो तब मैं उसको देख कहीं जो पाता था,
तो वह अपने प्रिय की डाली पर उड़कर चल जाता था
हो जाता झंकारित मन—'पी कहां ?'—मनोहर बोली से

प्रिय-अनुशीलन में फिर उठता बैठ न सकता तरु-तल में
तपन तपाता था तन को फिर धूलि जलाती पैरों को
विरह-वाहिन शीतल होती थी जब आंसू बह जाते थे।
मिलते थे मैदान जहां तृण-वीरुध एक नहीं उगते
बालू का ही पुंज दिखाई पड़ता ज्वालामय उद्भ्रांत
आर्द्र हृदय नीरद से जिससे भेंट कभी की भी न रही।
पैरों की तो कौन कहे मन की भी गति रुक जाती थी
जिसके पड़े फफोले आंसू बन-बनकर बह जाते थे।
आशा तरुवर दूर दिखाई देता था—जिसकी छाया
देती थी संतोष हृदय को उस मरुभूमि-निराशा में।

एक दिवस प्राची में अंधियारी जब बढ़ती जाती थी
सन्ध्या अपना फैलाती थी प्रभाव प्रकृति-विहारों में
मैं पहुंचा गिरि तटी समीप, जहां निर्मल सरिता बहती
हरी-भरी सब भूमि रही, अपने मन से विकसित तरु थे,
शीतल जल में अवगाहन कर शैल-शिला पर बैठ गया
शारदचंद्र गगन में सुन्दर लगा चमकने पूर्ण प्रकाश
शुभ्र अभ्र की छाया उस पर से होकर चल जाती थी
तब जैसे 'कन्दील' प्रकृति कौतुक-वश हो लटकाती थी
पूर्णचन्द्र की 'आंखमिचौनी' [illegible] मनोहर थी

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 46121

विदा हुआ आनन्द-नगर से, जन्मभूमि से, जननी से,
ऊंचे महलों से, सरिता के कूलों से, वनबागों से,
चारणभूमि, रसाल-कुंज से—जो शैशव के परिचित थे
हृदय हुआ था विकसित जिन वृक्षों को कुसुमित देख नितांत
उनसे भी आलिंगन करके किया प्रणाम विदाई का।
छोड़ दिया सुखधाम सकल आराम, प्रेम-पथ-पथिक हुआ
जगत प्रवास बना था मेरा, सभी नगर ही थे परदेश।

गिरि, कानन, जनपद, सरितायें, कितनी पड़ीं मार्ग के बीच
हृदयोपम सूना आकाश दिखाई पड़ता था सर्वत्र।
सूर्य सवेरे ही उगते थे, सबको नित्य उठाते थे
सब अपने कामों में लगते, मैं अपने पथ पर चलता।
वह जाता था उषा-काल में दक्षिण मलयज सुखकारी
किसी वृक्ष के नीचे रहता प्रेम-पथिक थक कर सोया।
वसन्त का भी पवन दोपहर में ज्वाला बरसाता था
छाया खोज कहीं जो बैठा, श्रम जिससे मिट जाय वहीं
तो चातक आकर पुकारता अहो—'पी कहां ?'—निज सुख में
व्यथित हृदय हो तब मैं उसको देख कहीं जो पाता था,
तो वह अपने प्रिय की डाली पर उड़कर चल जाता था
हो जाता झंकारित मन—'पी कहां ?'—मनोहर बोली से

प्रिय-अनुशीलन में फिर उठता बैठ न सकता तरु-तल में
तपन तपाता था तन को फिर धूलि जलाती पैरों को
विरह-वाहिनी शीतल होती थी जब आंसू बह जाते थे।
मिलते थे मैदान जहां तृण-वीरुध एक नहीं उगते
बालू का ही पुंज दिखाई पड़ता ज्वालामय उद्भ्रांत
आर्द्र हृदय नीरद से जिससे भेंट कभी की भी न रही।
पैरों की तो कौन कहे मन की भी गति रुक जाती थी
जिसके पड़े फफोले आंसू बन-बनकर वह जाते थे।
आशा तरुवर दूर दिखाई देता था—जिसकी छाया
देती थी संतोष हृदय को उस मरुभूमि-निराशा में।

एक दिवस प्राची में अंधियारी जब बढ़ती जाती थी
सन्ध्या अपना फैलाती थी प्रभाव प्रकृति-विहारों में
मैं पहुंचा गिरि तटी समीप, जहां निर्मल सरिता बहती
हरी-भरी सब भूमि रही, अपने मन से विकसित तरु थे,
शीतल जल में अवगाहन कर शैल-शिला पर बैठ गया
शारदचंद्र गगन में सुन्दर लगा चमकने पूर्ण प्रकाश
शुभ्र अभ्र की छाया उस पर से होकर चल जाती थी
तब जैसे 'कन्दील' प्रकृति कौतुक-वश हो लटकाती थी
पूर्णचन्द्र की 'आंखमिचौनी' ताकी मैंने मनोहर थी

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 4691

देख रहा था निर्निमेष हो मैं भी भावामयी क्रीड़ा,
अहा 'चमेली' का सुंदर मुख हृदय-गगन में उदित हुआ
प्रेम-सिन्धु में प्रतिबिम्बित हो शत-शत रूप बनाता था।
धीरे-धीरे बीती बातें याद लगीं पड़ने मुझको—
शैशव के सब सुखद दिवस जो स्वप्न-सदृश थे बीत गये
सचमुच तन्द्रा-सी मुझको फिर लगी, मोह में मुग्ध हुआ
देवदूत-सा चन्द्रबिम्ब से एक व्यक्ति उज्ज्वल निकला
कोमल-कण्ठ लगा कुछ कहने—ठोकर लगी विपंची में—

"पथिक! प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है
घनी छांह है जो ऊपर तो नीचे कांटे बिछे हुए
प्रेमयज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे;
इसका निर्मल विधु नीलाम्बर-मध्य किया करता क्रीड़ा
चपला जिसको देख चमककर छिप जाती है घन-पट में
प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्तिमात्र में बना रहे
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहां कि सब को समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत-भवन में टिक रहना
किन्तु पहुंचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं

अथवा उस आनन्द-भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं
यह जो केवल रूपजन्य है मोह न उसका स्पर्धी है
यही व्यक्तिगत हाँता है; पर प्रेम उदार, अनन्त अहो
उसमें इसमें शैल और सरिता का-सा कुछ अन्तर है।
प्रेम, जगत का चालक है, इसके आकर्षण में खिंच के-
मिट्टी वा जलपिण्ड सभी दिन-रात किया करते फेरा
इसकी गर्मी मरु, धरणी, गिरि, सिन्धु, सभी निज अन्तर में
रखते हैं आनन्द-सहित, है इसका अमित प्रभाव महा।
इसके बल से तरुवर पतझड़ कर वसंत को पाते हैं
इसका है सिद्धान्त—मिटा देना अस्तित्व सभी अपना
प्रियतम-मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहां
फिर तो वही रहा मन में, नयनों में, प्रत्युत जग भर में,
कहां रहा तब द्वेष किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है;
हो जब ऐसा वियोग तो संयोग वही हो जाता है
यह संज्ञायें उड़ जाती हैं, सत्य सत्त्व रह जाता है।"

धीरे-धीरे स्वर लहरी-सी मूर्ति लोप हो गई वहीं
प्रेम-बिम्ब-से स्वच्छ चन्द्र में अपने कथन-सदृश उसने
मिटा दिया अस्तित्व व्यक्ति का, केवल प्रेम-सुधाकर था।

★ ★ ★

धीरे-धीरे बीत चली रजनी, आलस को साथ लिये स्वप्न-सदृश निद्रा भी टूटी, वन-विहंग के कलरव से मिटी मलिनता, रवि-कर पाकर उषा उठ खड़ी हुई अहो जैसे प्रिय-कर का अवलम्बन किये प्रेयसी उठती है, क्योंकि हो रहा था प्रभात सब प्राणी मात्र निरखते थे राग रक्त अरुणोदय सहसा हृदय-गगन में संग हुआ फैल गया उत्साह-सदृश अभिनव उज्ज्वल आलोक वहां जिसमें प्रेम-पथिक अपने आनन्द-मार्ग पर चल निकला। यों ही वह विचरण करते, वह देश निरखता नयनों से प्रियतम-मय यह विश्व समझता यहां घूमता आया है।

बोली तब तापसी—कथा सुनते-सुनते जिसके मुख पर—बहुत भाव थे झलक गये—जैसे लहरी लीला सर में—"क्यों किशोर! क्या अब तक तुमको उस मिट्टी की 'पुतली' का ध्यान बना है? क्या अभागिनी याद तुम्हें अब रहती है! उस दुखिया का ध्यान लगा रखने से तुम भी दुखी हुए!"

"कौन? चमेली! अरे दयानिधि, यह क्या! कैसी लीला है! यह कैसा है वेश? तुम्हारा वह सब वैभव कहां गया? कहां स्निग्ध सौन्दर्य तुम्हारा? वह लावण्य कहां है अब? वे सब अलस-कटाक्ष कहां हैं? वे घुंघराले बाल कहां?

वह उन्मादक रूप, शिशिर के बूंद-सदृश क्या ढुलक गया ? सच है, या कि स्वप्न है, क्या आश्चर्य आज मैं देख रहा यह परदा कैसा उठता है जो आंखों पर छाया था नहीं नहीं—हां वही चमेली हो तुम, मेरी पुतली हो। ओह ! किन्तु दिन बीत गये—वह समय कहां-का-कहां गया अभिलाषायें रूप बदलकर अन्य हो गईं अहो, कहो—यह कुहेलिका कैसी फैली जिसमें सब बीती बातें दिन की तरह छिपीं विस्मृति का नीला परदा डाल दिया।"

"हां किशोर, यह वही तुम्हारी बाल्यसखी पुतली ही है जिसे देखते हो कानन में बनी तापसी बैठी है कर कल्याण-कामना जिसकी माता ने अपने हाथों अपनी कन्या को दुर्भाग्य खरीदा"—कहा चमेली ने—"उस विवाह से मेरी सारी स्वतंत्रता छीनी जाकर मुझे न कुछ भी मिला, एक क्षण स्नेह कभी करने वाली—

—प्रेम ! कहां ? —करुणा की दृष्टि न मेरी ओर कभी घूमी जब तक माता-पिता रहे जीवित तब तक कुछ बात नहीं फिर तो लक्ष्मी दोनों घर की पत्नी उनकी दासी थी हां किशोर, मैं भी सब देकर वेतनभुक्त पुजारी-सी उस पत्थर का आराधन दिन-रात किया ही करती थी

प्रेम, सहानुभूति का तो कुछ लेश न किसी हृदय में था
कमी नहीं आंतरिक भाव प्रकटित करने को जी भरकर
अश्रु दिखाई पड़ें, रही नहलाती उससे अन्तर में—
हृदय-रत्न वेदी पर जिसको पहले से बिठलाया था
क्योंकि और था क्या ? पूजा करने को पास पुजारी के
हृदय विश्व का तत्त्व निहित है जिसमें दो ही अक्षर में
उसकी लिपि पढ़ने का यत्न न करता निष्ठुर हो कोई
प्रत्न-तत्त्व में खंडहर खुदवाता फिरता है जहां कहीं
नहीं देखता है नवनीत-रचित कितने सुन्दर मन्दिर
पाकर हल्की आंच गले वे ढेर हुए हैं अंतर में
वह नैसर्गिक शिल्प कल्पना में भी क्या आ सकती है।
दिन-पर-दिन यों ही बीते वह कैसे कोई कहे अहो
जो कुछ था—सर्वस्व उड़ाकर उन्हीं स्वार्थी मित्रों में—
जो दरिद्र होने पर उनकी ओर देख सकुचाते थे।—
पति मेरे श्मशान-वासी होकर धरणी से चले गये
कुछ भी शेष नहीं था धरणी में—इस नीरस जीवन में
केवल दुःख निराशामय था, अंधकारमय अंतर था
धन-मदवाले की मैं पत्नी हुई अनाथा, विधवा भी;
लज्जा ! सच ही लज्जा मुझको कहने देती नहीं उसे

जिसे नर-पिशाचों ने करने का उद्योग किया ! मुझसे—
काम-वासना प्रकट की गई अहो मित्र की जाया से !
घोर दुःखसागर में 'उभचुभ' हो न डूबने पाती थी
उस अनाथ के नाथ दीन-दुखहारी को अपना पाया।
वृद्ध एक प्रेरित उनसे ही एक दिवस आकर बोला—
"पुत्री ! अब तुम वास यहां का छोड़ो, शीघ्र निकल जाओ,
जो आश्रय हो और तुम्हारा वहां रहो जाकर। इसको—
छोड़ो, यह नरक—तुम्हारे रहने के उपयुक्त नहीं।"
मैंने कहा—"पिता ! मेरा आश्रय प्रभु-चरण छोड़कर और
नहीं रहा संसार बीच। हां; तटिनी की तरंग भी हैं
क्योंकि सहारा रहा न कुछ भी अब इस मेरे भव तम में !"
कहा वृद्ध ने—"पुत्री, जीवन-पथ में शिक्षा कड़ी न दें
जो दुर्बल होकर जाता हैं, परम परीक्षक देख उसे
वहां गोद में आदर देकर उसे बिठाता कभी नहीं।
दूर यहां से एक जमींदारी मेरी हैं। शांति वहां—
जीवन-भर प्रयत्न कर संग्रह की हैं मैंने। चलो वहीं,
शांति-कुटीर बनाकर छोटे-से कानन में, प्रभु-पद में
निर्भय होकर रहो,—वहां कोई शंका का नाम नहीं।"
तब से आकर यहीं बिताती हूं जीवन दुखमय अपना,

खग-मृग सहचर हुए, यही झोंपड़ी हुई मन्दिर अपना,
जीवन-स्रोत बहा ले आया मुझको ऐसे स्थल पर
इसे कहानी समझो अथवा स्वप्न कहो निज पुतली का।"

फिर तो चारों ओर दृग के आंसू चौधारे लगे बहाने। हां,
सचमुच ऐसा करुण दृश्य क्या करुणानिधि को भाता है?
कृपा नाव क्या उनकी इस सागर में तैरा करती है?
किसी मनुज का देख आत्मबल कोई चाहे कितना ही
करे प्रशंसा, किन्तु हिमालय-सा भी जिसका हृदय रहे
और प्रेम, करुणा, गंगा-यमुना की धारा वही नहीं
कौन कहेगा उसे महान? न मरु में, उसमें अंतर है।
करुणा-यमुना, प्रेम जाह्नवी का संगम है भक्ति-प्रयाग
जहां शांति अक्षयवट बन कर, युग-युग तक परिवर्धित हो।
नीलोत्पल के बीच सजाये मोती-से आंसू के बूंद।
हृदय-सुधानिधि से निकले हो, सब न तुम्हें पहिचान सके
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल चिरदुःखी के परम उपाय।
यह भव-धरा तुम्हीं से सिञ्चित होकर हरी-भरी रहती
उन हृदयों को शीतल कर दो—जो परितापित हैं दुःख से।
बीत रही थी रजनी भी, प्रति पत्तों से बूंदें हिम की
ढुलक रही थीं, वे सब दोनों के आंसू के साथ वहां।

कहा जलद-गम्भीर-कण्ठ से तब किशोर ने पुतली से—
"जीवन के पथ में सुख-दुख दोनों समता को पाते हैं,
जिसे देखकर सुखी आज सब लोग सराहा करते हैं
कौन कहेगा—वही मानसिक कितना कष्ट उठाता है,
अथवा, चिर दरिद्र को भी सन्तोष सुखी करता कितना।
वर्तमान सुख-दुख में पड़ कर हर्ष, विषाद मानता जो
उपन्यास-लेखक है वह, परिणाम-स्थिति ही सच्ची है।
चिर-दुःखी को सुख की आशा उसे असीम हर्ष देती
सुखी नित्य डरता रहता है ध्यान भविष्यत् का करके
वह कल्याण-कामना, जो, जगजनक सभी की करता है
व्यक्तिमात्र के लिए नहीं है। दुःख देखकर अपना ही
मत समझो सब दुखी जगत को, मत लांछन दो ईश्वर को।
शिव समष्टि का होता, इच्छा उसकी पूरी होती है
अप्रत्याशित, अप्रकटित, कल्याण विश्व का करता है
क्योंकि विश्वमय है विश्वेश, रहस्य प्रेम के ये उसके।
हो केवल संयोग, कहो फिर वियोग की रूखी फीकी—
बिना स्वाद उसका क्या है। यह लीलामय की लीला है।
केवल स्मृति दुखदायक है—उसको भूलो सपना समझो
जीवन के कल्याण-मार्ग में प्रति पद को आगे रक्खो।

प्रबल वेग से उठते हैं जब वर्षा की नदियों में हृत्—
तुमुल तरंग, गरजते-फिरते किसी कूल को प्लावित कर,
वह स्वरूप वास्तविक नहीं है इस जीवन-निर्झरिणी का।
उसी तरह से युवक-युवतियों का होता है प्रणयोच्छ्वास,
उस पर ही अन्धानुरक्त हो दुःखपूर्ण जीवन करना
महा मूर्खता है केवल उच्छृंखल वृत्ति पुष्टि करना
सुनो चमेली! भूलो बीती बातों को, मन से धोकर
स्वच्छ बनो, आन्तरिक स्वर्ग में रमण करो होकर निष्काम
आत्म-समर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर,
प्रकृति मिला दो विश्वप्रेम में विश्व स्वयं ही ईश्वर है।
कहा अभी तुमने—'साथी खग-मृग ही मेरे हुए यहीं,
किन्तु न परिमित करो प्रेम, साँहार्द्र, विश्वव्यापी कर दो।
क्षणभंगुर सौंदर्य देख कर रीझो मत, देखो! देखो!!
उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्वमात्र में छाई है—
ऊपर देखो, नील-गगन-मण्डल में चमकीले तारे
नीचे हिम के बिन्दु एक ही मधुर भाव प्रकटित करते,
मधुर मरुत, कल-कल निर्झरिणी जल के साथ बहाता है
तुंग मनोहर शृंगों से सौंदर्यमयी विमला धारा।
छोटे-छोटे कुसुम श्यामला धरणी में किसका सौंदर्य

इतना लेकर खिलते हैं, जिन पर सुन्दरता का गर्वी—
मानव भी मधुलुब्ध मधुप-सा सुख अनुभव करता-फिरता।
देखो मोहन अपना कैसा वेश बदलता आता है
नीलाम्बर को छोड़ दिया पीताम्बर पहने वह आया
ताराओं का मणि-आभूषण धीरे-धीरे उतरा है।
कुसुमदलों से लदी हुई धरणी का यह शोभन उद्यान-
किसके क्रीड़ा-कुंज-समान दिखाई देता है सुन्दर
किसकी यह सम्भोग-सेज थी सजी? अभी उठ कर जैसे
चला गया है। परिमल-मिलित बूंद श्रम के ये बिखरे हैं।
किसकी त्रस्त अलस सुषमा थी अब तक धरणी लिये हुए
उषा चांदनी-सी बिछती है जिस सुन्दर के लिये कहो?
स्निग्ध, शांत, गम्भीर, महा सौन्दर्य सुधासागर के कण
ये सब बिखरे हैं जग में—विश्वात्मा ही सुंदरतम है!

न्योछावर कर दो उस पर तन मन जीवन, सर्वस्व; नहीं—
एक कामना रहे हृदय में, सब उत्सर्ग करो उस पर।
उस सौन्दर्य-सुधासागर के कण हैं हम तुम दोनों ही
मिलो उसी आनन्द-अम्बुनिधि में मन से प्रमुदित होकर
यह जो क्षणिक वियोग, वहां पर नहीं फटकने पावेगा
एक सिन्धु में मिल कर अक्षय सम्मेलन होगा सुंदर

फिर न बिछुड़ने का भय तुमको-मुझको होगा कहीं कमी।
आओ गले नहीं प्रत्युत हम हृदय-हृदय से मिल जायें
जीवन-पथ में सरिता होकर उस सागर तक दौड़ चलें।"

"चलो मिलें सौन्दर्य-प्रेमनिधि में"—तब कहा चमेली ने
"जहां, अखण्ड, शांति रहती है—वहां सदा स्वच्छन्द रहें!"
लगी बनाने सोने का संसार तपन की पीत विभा
स्थिर हो लगे देखने दोनों के दृग-तारा,—अरुणोदय।

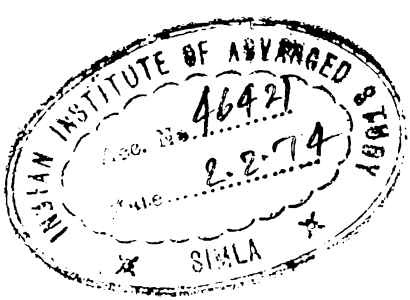

सम्पूर्ण प्रसाद-साहित्य

कविता

कामायनी	७.५०
पाण्डुलिपि संस्करण	७.००
आँसू	२.००
लहर	२.५०
झरना	२.५०
महाराणा का महत्त्व	०.७५
प्रेम-पथिक	१.००
करुणालय	१.२५
कानन-कुसुम	३.००
प्रसाद-संगीत	३.००

नाटक

स्कन्दगुप्त	३.००
अजातशत्रु	३.००
चन्द्रगुप्त	४.००
ध्रुवस्वामिनी	१.००
विशाख	२.५०
कामना	२.२५
जनमेजय का नागयज्ञ	२.००
राज्यश्री	२.००
एक घूंट	१.२५

उपन्यास

कंकाल	७.५०
तितली	६.००
इरावती	२.५०

कहानी-संग्रह

आकाशदीप	५.००
इन्द्रजाल	३.५०
प्रतिध्वनि	२.५०
आँधी	३.५०
छाया	३.००

विविध विषय

काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध	३.५०
चित्राधार	३.५०

प्रसाद-साहित्य के सहायक-ग्रन्थ

जयशंकर प्रसाद	: श्री नन्ददुलारे वाजपेयी	६.००
प्रसाद का काव्य	: डॉ० प्रेमशंकर	१६.००
प्रसाद साहित्य-कोश	: डॉ० हरदेव बाहरी	१२.५०
कामायनी-सौन्दर्य	: डॉ० फतह सिंह	१०.००

भारती भंडार

लीडर, प्रेस, इलाहाबाद